पारिस्थितिकी और जैन चिन्तन

• *डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी*

जैन सन्त और पर्यावरण - मनीषियों की मान्यता के अनुसार 'पारिस्थितिकी वह अध्ययन है जो विभिन्न जीवों के सम्बन्ध में उनके अपने-अपने पर्यावरण के परिवेश में किया जाता है[१]। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जैव-जगत् यानी कनक सहित सारे पौधे, सूक्ष्म जीवसहित जानवर और मनुष्य तक आ जाते हैं। फिर स्वयं पर्यावरण भी है जिसमें जीव-मण्डल में विद्यमान चेतन जीव ही नहीं, बल्कि प्रकृति में क्रियाशील अचेतन शक्तियाँ भी हैं। इस पारिस्थितिकी की परिभाषा में एक पारिभाषिक शब्द आया है -पर्यावरण। पारिस्थितिकी में इसी के परिवेश में जीवों के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाता है। जिस व्यवस्था मे वायु, जल, मनुष्य, जीव-जन्तु एवं प्लवक, मिट्टी एवं जीवाणु ये सब जीवन धारण प्रणाली में अदृश्य रूप से एक दूसरे से गुथे हुए हैं- वहीं व्यवस्था पर्यावरण कहलाती है।

बात यह है कि एक कमबद्ध इकाई विश्व या ब्रह्माण्ड है। इसमें अनेक आकाश गंगाएं हैं। इन आकाश गंगाओं में एक ग्रह या नक्षत्र सूर्य है। सूर्य-केन्द्रित सौर-मण्डल है। सौरमण्डल में कई ग्रह हैं जो उसको केन्द्र बनाकर घूमते हैं। इन ग्रहों में एक पृथ्वी है। इस पृथ्वी की आन्तरिक और बाह्य संरचना का भी अध्ययन किया जा चुका है। पृथ्वी का केन्द्र ठोस आन्तरिक क्रोड है जो १३०० किलोमीटर मोटा है जो २०८० किलोमीटर के बाहरी क्रोड से घिरा है। यह बाहरी क्रोड पिघला हुआ है जो २९०० किलोमीटर की मोटाई वाले मैटल से घिरा है। इसका भी ऊपरी भाग पृथ्वी की परत से ढंका है जिसकी मोटाई १२ से ६० किलोमीटर है। पृथ्वी की बाहरी सतह चार भागों में बटी हुई है-(१) लियो स्केयर (२) हाइड्रो स्केयर (३) एटमास्फेयर (४) बायोस्फेयर। पहले में पृथ्वी की ऊपरी सतह आती है जिसमें जमीन और समुद्री तल, दूसरे में जल-मण्डल, तीसरे में वायुमण्डल और चौथे में जैव-मण्डल (जीवन का क्षेत्र) है। यह थल, जल तथा वायु सभी मण्डलों में व्याप्त है। थल-मण्डल और जल-मण्डल के अतिरिक्त यह जो वायु-मण्डल है वह पृथ्वी का रोधी आवरण है जो सूर्य के गहन प्रकाश और ताप को नरम करता है। इसी ओजोनिक परत (०३) सूर्य की जीवनाशक परागवैगनीकिरणों को सोख लेती है। वायुमण्डल गुरुत्व द्वारा पृथ्वी से बंधा है। जलमण्डल से वाष्पोत्सर्जन के जरिए (पौधों के वाष्पीकरण द्वारा भी) पानी वायुमण्डल में प्रवेश करता है और हिम या वर्षा द्वारा वहाँ से नीचे आता है। जीवमण्डल ही जीवन को आधार प्रदान करता है। इस जीवनमण्डल में शैवाल, फंगस और काइयों से लेकर उच्चतर किस्म के पौधों की साढ़े तीन लाख जातियाँ हैं। इसी जीवमण्डल में एक कोशिक प्राणी से लेकर मनुष्य तक एक करोड़ दस लाख प्रकार की प्राणि-जातियाँ हैं। जीवमण्डल इस सभी के लिये आवश्यक सामग्री-प्रकाश, ताप, पानी, भोजन तथा आवास की व्यवस्था करता है। इस प्रकार यह जैवमण्डल पारिस्थितिक व्यवस्था एक

१. म[illegible]ा, इयर बुक, १९९१, पृष्ठ ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकासात्मक प्रणाली है। इसमें अनेक प्रकार के जैविक और भौतिक घटकों का सन्तुलन गतिशील रहता है। जीवन की इस निरन्तरता के मूल में अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को एक सुघटित तंत्र काम करता है। इस प्रकार यह वायु, जल, मनुष्य, जीव-जन्तु, वनस्पति, प्लवक, मिट्टी और जीवणु ये सब जीवन धारण प्रणाली में अदृश्य रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं यही व्यवस्था पर्यावरण कही जाती है।

इस पारिस्थितिक तंत्र या व्यवस्था की अपनी लय और गति होती है जो नाजुक रूप से सन्तुलित आवर्तनों के सम्पूर्ण सेट पर समाधृत है। सभी जीव-रोगाणु, पेड़-पौधे, पशुवर्ग और मनुष्य सभी पर्यावरण के साथ स्वयं अपना समायोजन करके और उसकी लय के साथ अपने जीवन को सुव्यवस्थित करने के कारण आज तक जीवित रहे हैं इसीलिए जीवन धारण के लिये नितान्त आवश्यक है कि इन आवर्तनों को अक्षुण्ण रखा जाग। इस जीव-मण्डल को सौर ऊर्जा धारण करती है।

यद्यपि पारिस्थितिकी में जीवों के सभी वर्ग आ जाते हैं फिर भी इसमें केन्द्रीय भूमिका मानव की ही है। इसका कारण यह है कि जीव वर्गों में यदि प्रकृति या पर्यावरण से किसी ने टक्कर ली है तो उसी ने।

स्थापित प्राकृतिक पद्धतियों के विरुद्ध उसके संघर्ष का लम्बा इतिहास है। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस संघर्ष ने एक संकट का रूप धारण कर लिया है। यही परिस्थितिजनित संकट कहा गया है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद पारिस्थितिक पद्धतियों में उसकी दखलंदाजी की मात्रा और तीव्रता दोनों ही तरफ बढ़ गई है। जल, स्थल और आकाश में जहाँ-जहाँ उसने चरण रखे हैं -सर्वत्र दखलंदाजी की है। इसे वह प्रकृतिविजय कहता है। पर्यावरण की जटिलताओं को समझे बिना हमारी दखलंदाजी बढ़ती जा रही है और इसके दुर्निवार दुष्परिणाम हो रहे हैं।

भारतीय चिन्तन मानव और प्रकृति को एक ही सत्ता का व्यवहार के स्तर पर विभाजित रूप मानता है -परमार्थ के स्तर पर नहीं, इसीलिए वह विकास के लिये परस्पर साहास्य की बात करता है -विजय की नहीं संघर्षपूर्वक विजय की नहीं वह अपनी शारीरिक आवश्यकता को कम से कम करने पर बल देता है -जीवनयापन के साधनों को सीमित करना चाहता है। यज्ञ संस्था के आविष्कार के मूल में भारतीयों की यही दृष्टि थी कि मानव और प्रकृति पारस्परिक विकास में एक दूसरे की सहायता करें और पर्यावरण के सन्तुलन को बनाए रखें। यदि मानव अपने विकास के लिये प्रकृति से कुछ ग्रहण करता है तो उसे उस क्षति की पूर्ति का कोई उपाय भी करना चाहिए। अतीन्द्रियदर्शी ऋषि-मुनि मानते थे कि यह जगत् अनन्त विचित्रताओं से परिपूर्ण है। जो सब सुक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ इसका संचालन करती हैं ऋषियों की परिभाषा में उनका नाम देवता है। तभी तो कहा गया है -देवाधीनं जगत् सर्वं -सारा संसार देवता के अधीन है। ऊपर विज्ञान जिस विश्वधारक व्यवस्था और उसमें योगदान करने वाले मण्डलों की बात कर चुका है, उनसे इस प्राचीन धारणा की तुलना करनी चाहिए। ऋषि लोग इन्हीं धारक और संचालक शक्तियों को देवता कहते हैं। जिस प्रकार शक्ति एक ही है पर कार्य भेद से अनन्त कही जाती है उसी प्रकार देवता भी एक है कार्य भेद से भिन्न-भिन्न है। यह शक्ति व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। अव्यक्त शक्ति द्वारा कार्य सम्पन्न नहीं होता। कार्य-साधन के लिये शक्ति को जगाना पड़ता है। और जगाकर कार्य में उसका विनियोग करना पड़ता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार शक्ति अपना कार्य करती है। विज्ञान इन्हीं नियमों की खोज करता है और प्रौद्योगिकी में उसका संचार करता है। कार्य करने पर शक्ति का अपचय होता है -फलतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि शक्ति (देवता) को अक्षुण्ण रखना है तो उस अपचय की पूर्ति के लिये उसमें अक्ष्य का समर्पण आवश्यक है। जिसके प्राप्त होने पर शक्ति पुष्ट होकर अपना संरक्षण करने में समर्थ हो वहीं शक्ति का आहार है। यह आहार शक्ति को दिया जाना चाहिए। यही देवता के उद्देश्य से किया गया द्रव्यत्याग है। देवतोद्देश्य द्रव्यत्याग ही त्याग है। कालान्तर में यह प्रक्रिया स्वार्थदूषित हो गई। वैदिक याग में जिस प्रकार मंत्रादिजन्य संस्कार द्वारा साधारण अग्नि को दिव्य में परिणत किया जाता है और फिर उस दिव्य अग्नि में आत्मसंस्कार साधक और अन्यान्य यागादि कर्म किए जाते हैं तांत्रिक होम में भी वैसा ही किया जाता है। मंत्रकृत संस्कार से होमाग्नि, इष्टाग्नि में और इष्टाग्नि, ब्रह्माग्नि तक के संस्कार में परिणत होती थी और इस तरह सन्तुलन ठीक रखा जाता था -लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस प्राप्त किया जाता था। यह सब यज्ञ का अन्तरंग पक्ष है। स्वार्थान्धतावश जब इसका स्थूल पक्ष विकृत होने लगा तब गीताकार ने भी इसका खण्डन किया। उसने यज्ञों में जप-यज्ञ को

यज्ञानाम् जपयज्ञोऽस्मि

महत्व दिया। ब्राह्मण सूत्रकार बौधायन तक ने कहा -

सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते

अर्थात् सब प्रकार के यज्ञों में आत्मयाग ही श्रेष्ठ है। इसी का नाम आत्मत्याग, आत्मनिष्ठा और आत्मप्रतिष्ठा है। यज्ञ कर्म है पर हर कर्म यज्ञ नहीं है। विपरीत इसके वह कर्म यज्ञ है जो व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति में पर्यवसित न होकर सम्पूर्ण विश्व की साधारण सम्पत्ति के रूप में व्याप्त हो जाता है। मतलब जो विश्वात्मा की प्रसन्नता के लिये किया जाय वही यज्ञ है। उसी से विश्वात्मा तृप्त होती है और यजमान के लिये वह हित या अमृत बन जाता है।

यज्ञ की स्थूल वैदिक प्रक्रिया के विकृत हो जाने पर उसकी मूल भावना की रक्षा के लिये श्रमणधारा सक्रिय हुई। इसी मूल भावना को धारण करने के लिये बुद्ध और जिनात्माओं का अवतार हुआ। इसीलिए उन्हें व्यापक रूप में भारतीय अतीन्द्रियदर्शी ऋषियों और अवतारों की अन्तर्धारा-उपधारा कहा जाना चाहिए। जिन वे ही हैं जिन्होंने द्वेष गर्भ राग पर विजय प्राप्त की। यज्ञ की स्थूल प्रक्रिया जब द्वेष-गर्भ राग से विकृत हो गई तब अन्तर्याग पर बल दिया गया। जिनों ने इस अन्तर्याग के लिये तप और अहिंसा का मार्ग ग्रहण किया। अहिंसा आचार में भी और विचार में भी। द्वेष-गर्भ राग का शमन इनका लक्ष्य था इसीलिए ऐसे राग पर जय पाने के कारण ही वे जिन कहे गए।

आज विज्ञान से ज्ञात नियमों का हम प्रौद्योगिकी में संचार कर रहे हैं और मानव प्रकृति अर्थात् देवता पर संघर्ष द्वारा विजय प्राप्त करने के दम्भ में आत्महत्या और पर-हत्या दोनों की ओर बढ़ रहा है -मानव और प्रकृति से समेकित पर्यावरण असन्तुलित हो रहा है। इस प्रगति में जो उपभोगवादी असंस्कृति फैल रही है -वह 'हिंसा' का ही प्रसार है आवश्यकता है इस 'हिंसा' पर सर्वथा और सर्वात्मना विजय की जो 'अहिंसा' से ही सम्भव है और इसके सूत्रधार होने का श्रेय जिनों को है। पारिस्थितिक संकट का मूल मानव में दानवाकार उभरती वृत्ति 'हिंसा' की भावना है और इसका एकमात्र उपचार 'अहिंसा' है। पर्यावरण में होने वाले असन्तुलन के निवारक यज्ञ में पनपती हुई हिंसावृत्ति को कृष्ण, बुद्ध और जिनों ने लक्षित किया और अहिंसा को -निष्काम भावना को एकमात्र उपचार घोषित किया। उनके यहाँ 'हिंसा' की परिभाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दी गई -

प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा

प्रमाद के योग से यथासम्भव द्रव्यप्राण या भावप्राण का वियोग करना ही हिंसा है। प्रमाद के अन्तर्गत पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, राग-द्वेष और निद्रा का समावेश है। इन्हीं के कारण प्राण (द्रव्य और भावमय) का वियोग होता है। द्रव्यप्राण में पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास का तथा भावप्राण में ज्ञान और दर्शन का समावेश है। प्रमाद एक प्रकार से स्वरूप बोध से असावधानी है। यह प्रमाद ही है जिसके कारण हम असत्य भाषण, चौर्य, मैथुन, परिग्रह और हिंसा करते हैं। विज्ञान से प्राकृतिक नियमों को जानकर जो प्रकृति-जय की ओर हम बढ़ रहे हैं वह अज्ञान के कारण ही है।

मैं ऐसा मानता हूँ कि सम्प्रदाय साधना के स्तर पर भेद करके चलता है पर अध्यात्म स्तर पर भेद सम्भव नहीं है। तात्विक सत्य दो नहीं हो सकते। अध्यात्मविद् योगीन्दु ने 'योगसार' में इसी तात्विक सत्य का साक्षात्कार करके कहा था.....

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्ध सिवु सेतु।
सो परमप्पा जिण-भणउ एहउ जाणि णिमंतु॥

अर्थात् परमात्मा के ही विभिन्न नाम साम्प्रदायिक लोग लिया करते हैं -वे उन्हें जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव, बुद्ध आदि संज्ञाएं देते हैं। तत्वतः वे एक हैं इसलिए भारतीय चिन्तन में सम्प्रदाय भेद है तात्विक भेद नहीं है। सम्प्रदाय की दृष्टि से ब्राह्मणों, शैवों, शाक्तों और बौद्धों में विभिन्न धाराएं हैं फिर भी वे एक-एक खेमे में जैसे माने जाते हैं वैसे ही ये परम्पर साम्प्रदायिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न होकर भारतीय चिन्तन की दृष्टि से एक हैं। कर्मबन्धन को सभी प्रमाद दशा मानते हैं और उससे स्वतंत्र सभी होना चाहते हैं। इसीलिए मुनि विद्यानन्द शासन को सम्प्रदाय-निरपेक्ष तो रखना चाहते हैं पर धर्म-निरपेक्ष नहीं। अपने-अपने धर्म में स्थित रहकर यष्टि और समष्टि अपनी सत्ता की रक्षा करते हैं। औष्ण्य में (धर्म है अग्नि का औष्णा) रहकर ही अग्नि अपनी सत्ता में स्थित रहता है। मानवता में रहकर ही मानव अपनी सत्ता की रक्षा कर सकता है और मानवता 'पर-रक्षा' में है। यदि हम प्रमादहीन होकर मानवता-में- स्वरूप में -प्रतिष्ठित रहें तो पारिस्थितिक संकट से उबर सकते हैं कारण, तब हम आत्मेतर की रागमूलक हिंसा नहीं करेंगे। सर्वज्ञ होकर सन्तुलन बनाए रखने में योग देंगे। जो असर्वज्ञ विश्वव्यवस्था को जानता ही नहीं वह सन्तुलन कैसे बनाएगा? यदि अहिंसामय तप में प्रतिष्ठित होगा तब उस दिशा में यात्रा अवश्य करेगा।

-२ स्टेट बैंक कालोनी
देवास रोड़, उज्जैन (म.प्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org